दो शब्द

भारत विकास परिषद् के संस्थापक मनीषियों ने प्रारंभ से ही यह निश्चय कर लिया था कि परिषद् स्वामी विवेकानन्द को अपना आदर्श पुरुष मानते हुए उनके विचारों तथा सिद्धान्तों का अनुसरण करेगी।

स्वामी जी के स्वयं के जीवन, उनके द्वारा किये गये कार्य एवं उनके विचारों में वे कौन सी विशेषताएं हैं जिन्हें परिषद् ने अपने संगठन, कार्य प्रणाली एवं कार्यक्रमों में आत्मसात किया है।

स्वामी जी ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की स्थापना की कि मानव सेवा ही ईश्वर की पूजा है। जब तक इस देश में एक भी व्यक्ति निरक्षर, निर्धन एवं पीड़ित है तब तक समाज के शिक्षित एवं सम्पन्न वर्ग को चैन से नहीं बैठना चाहिए। भूखे व्यक्ति के लिये धर्म का कोई अर्थ नहीं होता। निर्धन व्यक्ति ही ईश्वर का स्वरूप है एवं उसकी सेवा ही ईश्वर की पूजा है। स्वामी जी ने आध्यात्मिकता को भी सेवा से जोड़ा एवं सेवा को ही ईश्वर तक पहुंचने का एक मात्र मार्ग बतलाया।

साथ ही स्वामी जी सेवा को व्यक्तिगत स्तर तक सीमित न करके इसे संगठित रूप देना चाहते थे ताकि समाज का एक बड़ा वर्ग इससे जुड़ सके। इसी उद्देश्य से उन्होंने अपने जीवन काल में ही राम कृष्ण मिशन की स्थापना कई स्थानों पर की थी जो आज भी बड़े रूप में चल रहे हैं एवं सेवा कार्य कर रहे हैं।

भारत विकास परिषद् ने भी संस्कार तथा सेवा को अपना मूल मंत्र बनाया है। अपने मन तथा आचरण को संस्कारित करके पीड़ित मानवता की सेवा करना ही परिषद् का एक मात्र उद्देश्य है। संपर्क एवं सहयोग के माध्यम से 50000 हजार परिवारों को 1200 शाखाओं के रूप में संगठित किया गया है।

12 जनवरी 2013 को स्वामी जी की 150वीं जयन्ती मनाई जायेगी। परिषद् ने 12 जनवरी 2012 से 12 जनवरी 2013 तक पूरे वर्ष स्वामी जी से संबंधित अनेक कार्यक्रम आयोजित करने का निर्णय लिया है। उसी श्रृंखला में हिन्दी एवं अंग्रेजी में स्वामी जी की संक्षिप्त जीवनी भी प्रकाशित की गई है ताकि हमारे कार्यकर्ताओं को अपने आदर्श पुरुष के विषय में विस्तृत एवं सटीक जानकारी मिल सके।

मैं परिषद् के प्रकाशन विभाग के अपने सहयोगियों को बधाई देना चाहता हूं जिन्होंने अत्यंत परिश्रम करके इस सुन्दर पुस्तिका का प्रकाशन किया है। श्री सुरेश चन्द्र विशेष बधाई के पात्र हैं, जिन्होंने बड़ी कुशलता से स्वामी विवेकानन्द की जीवन गाथा को बहुत सरल एवं व्यवस्थित ढ़ग से इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है।

रवीन्द्र पाल शर्मा
राष्ट्रीय अध्यक्ष

जन्म, बचपन एवं शिक्षा

मैं बचपन से एक दुस्साहसी बालक था अन्यथा जेब में एक पैसा न होते हुए भी सारी दुनिया कैसे घूम सकता था।

गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर ने एक बार कहा था, ''यदि आप भारत को जानना चाहते हैं तो विवेकानन्द को पढ़िये। उनमें सब कुछ एकरात्मक ही पायेंगे नकारात्मक कुछ भी नहीं।'' प्रसिद्ध फ्रांसिसी विद्वान रोमां रोलां ने उनके विषय में लिखा है:-''उनके द्वितीय होने की कल्पना करना असंभव है। वे जहां भी गये अद्वितीय रहे। हर कोई उनमें अपने नेता का दिग्दर्शन करता था। वे ईश्वर के प्रतिनिधि थे और सब पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेना ही उनके विशिष्टता थी।''

स्वामी विवेकानन्द केवल एक संत ही नहीं थे वे एक महान देशभक्त, प्रखर वक्ता, विचारक एवं मानवता प्रेमी भी थे। उनका विश्वास था कि पवित्र भारत भूमि धर्म एवं दर्शन की पुण्य भूमि है। यह त्याग, सेवा एवं निष्काम कर्म की भूमि है।

इस महान संत का जन्म कलकत्ता महानगर में सोमवार 12 जनवरी 1863 को एक सम्भ्रांत एवं प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम विश्वनाथ दत्त एवं माता का नाम भुवनेश्वरी देवी था। स्वामी विवेकानन्द का बचपन का नाम नरेन्द्र दत्त था। पिता विश्वनाथ दत्त, कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत करते थे एवं अंग्रेजी तथा फारसी का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। बाईबिल तथा हिन्दू धर्म ग्रन्थों के अध्ययन में भी उनकी गहरी रूचि थी। किन्तु पश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होने के कारण वे बुद्धिवादी एवं प्रगतिशील विचारों वाले व्यक्ति थे। भुवनेश्वरी देवी अभिजात व्यक्तित्व वाली एक निपुण तथा धर्मनिष्ठ महिला थीं।

नरेन्द्र दत्त के दो बड़ी बहिनें, दो छोटी बहिनें तथा दो छोटे भाई महेन्द्र नाथ तथा भूपेन्द्र नाथ थे। दोनों छोटे भाई अत्यंत गुणवान थे एवं जीवन पर्यन्त अविवाहित रहे। महेन्द्र नाथ ने सन्यासी तुल्य जीवन व्यतीत किया। उनकी दो बहिनों का स्वर्गवास उनके जीवन काल में ही हो गया था।

बचपन से ही नरेन्द्र अत्यंत चंचल, नटखट एवं दुरुसाहसी थे। जब अपनी इच्छानुसार उन्हें कोई वस्तु प्राप्त नहीं होती तो वे जोर-जोर से रोने लगते एवं उनके इस आचरण से सारा घर अशान्त हो जाता। उनकी इस हठ से चिढ़कर जब उनकी

बहिनें उनकी पिटाई करने के लिये उन्हें पकड़ने दौड़तीं तो वे दौड़कर नाले में उतर जाते और अपने शरीर पर कीचड़ पोतकर ताली पीटकर कहते कि-''आओ मुझे पकड़ो''। ऐसे में भला कौन उन्हें पकड़ता।

वे प्राय: ही अपने मित्रों के साथ शिव की पूजा ध्यान मग्न होकर किया करते थे। एक दिन ऐसी ही पूजा करते समय उनके मित्रों ने चिल्लाना प्रारम्भ किया ''सांप, सांप''। सभी लड़के बाहर निकल गये किन्तु नरेन्द्र वहीं ध्यान मग्न बैठे रहे। बच्चों की चीख सुनकर नरेन्द्र के माता पिता तथा अन्य लोग कमरे में आये तो देखा कि नरेन्द्र अविचल ध्यान लगाकर बैठे हुए हैं एवं उनके सामने ही एक विषधर फन फैलाये बैठा हुआ है। सब लोगों को जैसे काठ मार गया किन्तु वे कुछ कर भी नहीं सकते थे। विषधर एवं नरेन्द्र की दूरी मात्र दो तीन हाथ भर थी। कुछ पल बाद भुजंग रेंगते हुए कही चला गया। कुछ समय पश्चात् नरेन्द्र ने आंखें खोली। पूछने पर उन्होंने कहा कि मैं सांप के विषय में कुछ नहीं जानता। मैं तो आनन्द में डूबा हुआ था।

संम्भवत: वह योगी विवेकानन्द का प्रारम्भिक रूप था।

उनके एक मित्र के घर में चम्पक का एक वृक्ष लगा हुआ था। नरेन्द्र प्राय: ही वहीं खेलने जाते थे एवं वृक्ष की शाखाओं पर झूलते रहते थे। मित्र के दादा उन्हें समझा कर कहते, ''बेटा तुम इस वृक्ष पर मत झूलो। इस पर ब्रह्म राक्षक रहता है।''

नरेन्द्र पूछते ''दादा जी, यह ब्रह्म राक्षस क्या होता है?''

उत्तर में दादा जी ब्रह्म राक्षस की अपार शक्ति एवं वीभत्स कर्मों का वर्णन करते और कहते कि जो भी इस वृक्ष पर चढ़ता है ब्रह्म राक्षस उसकी गर्दन मरोड़ देता है।

नरेन्द्र ने दादा जी को झिड़की देते हुए कहा, ''अगर सचमुच इस वृक्ष पर ब्रह्म राक्षस रहता तो अब तक वह मेरी गर्दन मरोड़ चुका होता।''

जब नरेन्द्र नाथ पांच वर्ष के हो गये तो विधि विधान से उनका विद्यारंभ कराया गया। प्रारम्भ में एक शिक्षक उन्हें घर पर ही पढ़ाने आते थे। जब नरेन्द्र कोई गलती करते तो शिक्षक उन्हें मारपीट कर सिखाने की कोशिश करते थे किन्तु उनके सामने शिक्षक की एक नहीं चलती थी। वे अड़ जाते थे अत: उन्हें प्यार-मनुहार करके ही सिखाना पड़ता था।

बाद में उनका दाखिला मेट्रोपोलिटन इंस्टीच्यूट में करवाया गया। वहां प्रारम्भ

में तो वे प्रसन्न हुए किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् उन्हें वहां घुटन महसूस होने लगी। कारण यह था कि वहां की पढ़ाई रटने पर अधिक जोर देती थी। अपनी बुद्धि के प्रयोग का वहां कोई अवसर नहीं था। वे अपनी कक्षा में देर तक नहीं बैठ पाते थे। कभी खड़े हो जाते और कभी अकारण ही कक्षा के बाहर निकल जाते। कभी-कभी वे अपने वस्त्र एवं पुस्तकें ही फाड़ डालते थे। उनके ऐसे आचरण से उनके परिजन एवं शिक्षक दोनों ही परेशानी अनुभव करते थे। किन्तु किसी सख्ती का उन पर कोई असर नहीं होता था अत: समझा बुझाकर ही उन्हें नियंत्रण में लाने का प्रयत्न किया जाता था।

अपने व्यवसाय के सिलसिले में नरेन्द्र के पिता को रायपुर (वर्तमान में छत्तीसगढ़ की राजधानी) जाना पड़ा जहां वे दो वर्ष से भी अधिक रहे। इस बीच नरेन्द्र गम्भीर रूप से बीमार हो गये अत: पिता ने उन्हें वही बुलवा लिया। इस समय कलकत्ता से रायपुर के कोई रेल मार्ग नहीं था एवं नागपुर पहुंच कर बैलगाड़ी से रायपुर जाना पड़ता था। इस यात्रा में 15 दिन लगते थे। इस यात्रा में नरेन्द्र प्रथम बार प्रकृति के सीधे संपर्क में आये। विन्ध्य पर्वतों की सुन्दरता देखकर वे अभिभूत हो गये। प्रकृति की गोद में मानों उन्हें ब्रह्म का आभास हुआ। उनके हृदय में छुपी हुई देशाटन की आकांक्षा जाग उठी एवं अपने अल्प जीवन काल में उन्होंने भारतवर्ष एवं विश्व की जो यात्राऐं की उनकी नींव वहीं पर पड़ी।

रायपुर में कोई स्कूल नहीं था अत: उनके पिता स्वयं ही उन्हें पढ़ाते थे। विश्वनाथ दत्त अपने पुत्र की प्रतिभा से अनभिज्ञ नहीं थे। उन्होंने पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त उन्हें धार्मिक तथा दर्शन के ग्रन्थ भी पढ़ाये। वे उनसे वाद-विवाद भी करते थे। वास्तव में नरेन्द्र का चरित्र निर्माण रायपुर में ही हुआ एवं उनके अध्ययन शील जीवन की नीव भी वहीं पर पड़ी।

दो वर्षों के पश्चात् नरेन्द्र कलकत्ता लौट आये। वे दसवीं कक्षा की परीक्षा देना चाहते थे किन्तु दो वर्ष तक नियमित कक्षाओं से अनुपस्थित रहे थे अत: विशेष अनुमति के आधार पर उन्हें एक स्कूल में प्रवेश मिल सका। एक ही वर्ष में उन्होंने नौवीं एवं दसवीं का कोर्स पूर्ण किया। दसवीं की परीक्षा उन्होंने प्रथम श्रेणी में पास की एवं स्कूल में प्रथम श्रेणी पाने वाले केवल वे ही एक मात्र विद्यार्थी थे।

ऐफ.ए. तथा बी.ए. उत्तीर्ण करने के दौरान ही उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन का गहन अध्ययन किया। वे किसी भी पुस्तक के पृष्ठों की प्रारम्भ तथा अन्त की पंक्तियों को पढ़कर उस पुस्तक के विषय वस्तु एवं लेखक के विषय में विस्तार

पूर्वक बतला सकते थे। जनरल एसेम्बली कालेज, जहां से उन्होंने बी.ए. की डिग्री ली थी, के प्रिन्सिपल विलियम हेस्टी ने उनके विषय में कहा था कि जर्मनी तथा इंगलैंड के विश्वविद्यालयों में नरेन्द्र जैसा एक भी प्रतिभाशाली विद्यार्थी नहीं है।

अध्ययन के दौरान नरेन्द्र ने संगीत का प्रशिक्षण भी प्राप्त किया। उनका कंठ स्वर मधुर या एवं उनका गायन श्रोताओं को अभिभूत कर देता था।

1884 में नरेन्द्र ने बी.ए. की डिग्री प्राप्त कर ली थी एवं उसके पश्चात् वे बी. एल. की पढ़ाई कर रहे थे तभी अचानक उनके पिता विश्वनाथ बाबू का निधन हो गया। पिता का आकस्मिक निधन पूरे परिवार के लिये एक बहुत बड़ा आघात था। परिवार के लिये जीविकोपार्जन करने हेतु कोई नहीं बचा था। विश्वनाथ बाबु की प्रैक्टिस काफी अच्छी थी किन्तु वे कभी भी कुछ बचा कर नहीं रखते थे। पूरा परिवार शान शौकत से रहता था एवं विश्वनाथ जी दान भी काफी करते थे। बचत के स्थान पर उन पर कुछ कर्ज ही हो गया था।

परिवार के मुखिया की मृत्यु होने से समस्त सगे संबंधियों ने इस परिवार से मुख मोड़ लिया। यही नहीं एक संबंधी ने उनके मकान पर कब्जा करने के लिये उन पर मुकदमा दायर कर दिया। कुछ ही दिनों में इस सम्पन्न परिवार को भूखों मरने की नौबत आ गई। विवश होकर नरेन्द्र नौकरी के लिये भटकने लगे।

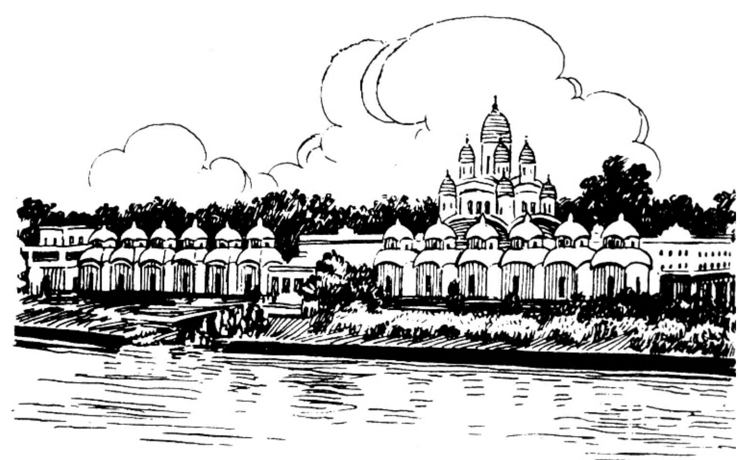

दक्षिणेश्वर काली मन्दिर

श्री रामकृष्ण परम हंस के सान्निध्य में

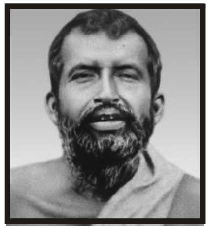

श्री रामकृष्ण परम हंस जैसे गुरु के बिना नरेन्द्र स्वामी विवेकानन्द नहीं बन पाये होते किन्तु विवेकानन्द जैसे शिष्य के बिना रामकृष्ण भी काली मन्दिर के अज्ञात पुजारी ही रह जाते।

बंगाल के हुगली जिले के एक गांव कामारपुकुर में एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में 17 फरवरी 1836 को एक बालक ने जन्म लिया जिसका नाम गदाधर रखा गया। यही बालक आगे चलकर श्री राम कृष्ण परमहंस के नाम से विख्यात हुआ। राम कृष्ण के बचपन में ही उनके पिता का निधन हो गया था एवं वे शिक्षा ग्रहण करने अपने अग्रज के पास कलकत्ता आ गये थे। उनके अग्रज कलकत्ता में एक संस्कृत पाठशाला चलाते थे। शिक्षा ग्रहण करते समय रामकृष्ण के मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि इस लौकिक शिक्षा का क्या लाभ एवं इसकी क्या आवश्यकता? इससे मुझे अमृत तो नहीं मिल सकेगा।

तभी से वे अध्यात्म की ओर उन्मुख होने लगे।

उन्हीं दिनों कलकत्ता की एक धनाढ्य एवं धर्मनिष्ठ महिला रानी रासमणि ने दक्षिणेश्वर में मां काली का एक भव्य मन्दिर का निर्माण कराया था। नवयुवक राम कृष्ण को इस मंदिर के पुजारी नियुक्त किया गया। वे मंदिर में नियमित रूप से पूजा पाठ करते थे एवं धीरे-धीरे वे मां काली के अनन्य भक्त बन गये। उनके मन में ये प्रश्न निरंतर उठते रहते थे—क्या वास्तव में कोई जगन्माता है? क्या वह सम्पूर्ण ब्रह्मांड को नियंत्रित कर रही है?''

मां को वे कातर भाव से पुकारते एवं उसके दर्शनों के लिये लालायित रहते थे। उनके अध्यात्म की ख्याति धीरे-धीरे चारों ओर फैल गई।

स्वामी रामकृष्ण परम हंस का यह संक्षिप्त जीवन वृत्त अधूरा रहेगा यदि इसमें उनकी सहधर्मिणि शारदा मणि का जिक्र न किया जाये। वे मां शारदा के नाम से प्रसिद्ध हुई। उनका जन्म सन् 1853 में हुआ था अर्थात् वे श्री रामकृष्ण से 17 वर्ष छोटी थी। उनका विवाह 1859 में हुआ जब वे केवल 6 वर्ष की थीं। वे पतिगृह दक्षिणेश्वर में 1872 में आई थीं। वे निरन्तर पति की सेवा में लगी रहती थीं। एक बार जब वे श्री रामकृष्ण के पैर दबा रही थी तो उन्होंने अपने पति से पूछा—''आप मुझे किस दृष्टि से देखते हैं।'' श्री रामकृष्ण ने कहा–''मैं तुम्हें मन्दिर में विराजमान

मां काली एवं इस शरीर को जन्म देने वाली मां मानता हूं। मैं सदैव तुम्हें कल्याणकारी देवी मां समझता हूं।''

मां शारदा परमहंस की महासमाधि के पश्चात् सन् 1920 तक जीवित रहीं और उनके शिष्यों का मार्गदर्शन करती रहीं।

नवम्बर 1881 में नरेन्द्र के पारिवारिक मित्र सुरेन्द्र नाथ मित्र ने अपने निवास स्थान पर एक उत्सव का आयोजन किया। इस अवसर पर श्री रामकृष्ण परम हंस भी आमंत्रित थे। तब तक उनकी ख्याति चतुर्दिक फैल चुकी थी। उत्सव में किसी अच्छे गायक की आवश्यकता महसूस हुई। सुरेन्द्र नाथ ने नरेन्द्र को बुला भेजा। नरेन्द्र ने अपने गायन से समां बांध दिया। यहीं नरेन्द्र का स्वामी रामकृष्ण परमहंस से प्रथम साक्षात्कार हुआ। परमहंस को इस युवक में कुछ विशेष आकर्षण महसूस हुआ। उन्होंने चलते समय नरेन्द्र को दक्षिणेश्वर आने का निमंत्रण दिया जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया।

नरेन्द्र कुछ दिनों के पश्चात् दक्षिणेश्वर पहुंचे। श्री रामकृष्ण उन्हें एकांत में ले गये और स्नेह पूर्वक बोले-''तुम इतने दिन तक मुझे विस्मृत कैसे रहते रहे? मैं कब से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था।'' अपनी बात जारी रखते हुए परमहंस ने कहा-''मैं जानता हूं तुम सप्तर्षि मंडल के ऋषि हो, नर रूपी नारायण हो, जीवों के कल्याण की कामना से तुमने इस शरीर को धारण किया है।'' यह कहते कहते श्री रामकृष्ण भाव विह्वल हो गये एवं उनकी आंखों से आंसू झरने लगे।

नरेन्द्र सोचने लगे-''कहां मैं और कहां इनकी ये लम्बी चौड़ी बातें। कहीं यह आदमी पागल तो नहीं है।''

किन्तु रामकृष्ण में पागलपन के कोई लक्षण उन्हें नजर नहीं आते थे। अपने अन्य शिष्यों से वार्तालाप करते समय श्री रामकृष्ण पूर्ण रूप से सामान्य दिखते थे। यद्यपि नरेन्द्र उन्हें एक दम से अपना आदर्श पुरुष मानने को तैयार नहीं थे किन्तु फिर भी इस पागल पुरोहित में उन्हें एक आकर्षण की अनुभूति होने लगी थी। अत: वे अगले तीन वर्ष तक इस शिशु तुल्य, निश्छल, त्याग प्रवृत्ति वाले, ईश्वर निष्ठ संत के सत्संग हेतु दक्षिणेश्वर आते रहे।

इस बीच नरेन्द्र ब्राह्म समाज एवं स्वामी रामकृष्ण परम हंस के बीच में झूल रहे थे। एक ओर ब्राह्म समाज के बुद्धिवादी तर्क, निराकार की उपासना एवं सामाजिक कुरीतियों का विरोध एवं दूसरी ओर परम हंस की एक निष्ठ काली पूजा,

बार-बार समाधिष्ठ हो जाना एवं हर बात के लिये कहना कि मां काली ने ही उनसे यह बात कही है। नरेन्द्र के प्रति उनका स्नेह भी अद्वितीय श्रेणी का था। एक दिन ब्राह्म समाज के कुछ शीर्ष व्यक्ति केशवचंद्र, विजय कृष्ण आदि दक्षिणेश्वर में श्री रामकृष्ण के पास बैठे हुए थे। नरेन्द्र भी वहीं बैठे थे। थोड़ी देर बाद केशव चन्द्र आदि वहां से चले गये। इसी बीच श्री रामकृष्ण भावस्थ हो गये एवं कहने लगे-''मैंने देखा कि जिस शक्ति से केशव ने प्रतिष्ठा अर्जित की है उस प्रकार की अठारह शक्तियां नरेन्द्र में हैं। केशव के हृदय में ज्ञानदीप जल रहा है, नरेन्द्र में ज्ञान सूर्य विद्यमान है।''

नरेन्द्र ने इसका प्रतिवाद किया किन्तु श्री रामकृष्ण बोले-''मैं भला क्या करूँ। मां ने मुझे जैसा दिखाया वैसा मैने कह दिया।'' फिर भी नरेन्द्र यह मानने को तैयार नहीं थे कि वे कोई अवतारी पुरुष हैं एवं ईश्वर ने उन्हें किसी विशेष कार्य के लिये भेजा है। वे इसे श्री रामकृष्ण का निजी विचार मानते थे।

इसी असंमजस के क्षणों में एक दिन उन्होंने श्री रामकृष्ण से पूछा-''महाराज, क्या आपने ईश्वर के दर्शन किये है?'' परमहंस ने शांत भाव से उत्तर दिया-''हां, मैंने ईश्वर के उसी प्रकार दर्शन किये हैं जिस प्रकार तुम्हें देख रहा हूं। क्या तुम ईश्वर को देखना चाहते हो? यदि हां तो मेरे कहे अनुसार कार्य करो, तो तुम भी ईश्वर को देख सकोगे।''

इसके पश्चात अनेकों बार ऐसा हुआ कि श्री रामकृष्ण ने उन्हें स्पर्श किया एवं नरेन्द्र की चेतना लुप्त हो गई। कुछ क्षणों के पश्चात् वे पुनः अपनी पूर्वावस्था में आ गये। प्रारम्भ में उन्हें लगा कि श्री रामकृष्ण ने उन पर सम्मोहन विद्या का प्रयोग कर रहे हैं किन्तु धीरे-धीरे उनका मन परमहंस के दृढ़ निश्चय एवं अध्यात्म शक्ति से प्रभावित होने लगा।

अपने आर्थिक संकट एवं पारिवारिक कठिनाइयों के बावजूद भी नरेन्द्र दक्षिणेश्वर जाते रहते थे। श्री रामकृष्ण के सान्निध्य से उन्हें बल मिलता था एवं कठिनाइयों से लड़ने की प्रेरणा भी मिलती थी। मकान के लिये चल रहे मुकद्दमे में वे स्वयं ही न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित हुए एवं अपने मामले की जोरदार पैरवी की। न्यायाधीश ने उनके तर्कों से प्रभावित होकर निर्णय उनके ही पक्ष में दिया और यह भी कहा कि वे बहुत अच्छे वकील बन सकते हैं। इस प्रकार उनका मकान उन्हीं के पास रह गया। धीरे-धीरे वे अपने परिवार की आवश्यकताओं की आंशिक पूर्ति में भी समर्थ होने लगे। उन्होंने एक एटोर्नी के ऑफिस में नौकरी कर ली एवं कुछ

पुस्तकों का अनुवाद किया। कुछ दिनों एक स्कूल में अध्यापन भी किया।

इन्हीं कठिनाइयों के मध्य एक दिन श्री रामकृष्ण ने नरेन्द्र से मां काली की मूर्ति के समक्ष जाकर कुछ मांगने को कहा? नरेन्द्र यद्यपि इस सब में विश्वास नहीं करते थे किन्तु श्री रामकृष्ण के आग्रह करने पर वे मन्दिर में प्रतिमा के समक्ष गये। किन्तु अपने परिजनों के कष्टों को दूर करने की याचना करने के स्थान पर उन्होंने कहा-''मां ! मुझे विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान दो, भक्ति दो।''

श्री रामकृष्ण ने उन्हें फिर कुछ और मांगने के लिये भेजा किन्तु वे पुनः यही याचना करके लौट आए। मां के समक्ष जाते ही वे धन, धान्य, सम्पति मांगना भूल जाते थे।

नरेन्द्र अब विवेकानन्द बनने की राह पर चल पड़े थे।

वर्ष 1885 में श्री रामकृष्ण गले के कैन्सर से पीड़ित हो गये। दक्षिणेश्वर से उन्हें कलकत्ता के एक मकान में से लाया गया ताकि उनकी समुचित चिकित्सा एवं देखभाल हो सके। नरेन्द्र ने उनकी सुश्रुआ हेतु अपनी अध्यापक की नौकरी भी छोड़ दी।

उनके शिष्यों ने काशीपुर नामक स्थान पर एक बगीचे वाला मकान किराये पर ले लिया एवं परम हंस सहित सब लोग वहीं आ गये। इसी मकान में परम हंस ने अपने इन समस्त शिष्यों को भगवा वस्त्र पहनाकर उन्हें सन्यासी की दीक्षा ग्रहण कराई एवं विधिवत रामकृष्ण संघ की स्थापना की गई। नरेन्द्र को उसका प्रमुख बनाया गया। इन सबका नवीन नामकरण भी किया गया एवं नरेन्द्र विधिवत स्वामी विवेकानन्द बन गये।

इन समस्त सन्यासियों को भिक्षाटन हेतु जाने को आदेश दिया गया एवं संभ्रांत परिवारों के ये युवक कलकत्ता की सड़कों पर भीख मांगने निकल पड़े।

श्री रामकृष्ण परम हंस की बीमारी बढ़ती चली गई एवं किसी चिकित्सा का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में 16 अगस्त 1886 को उन्होंने अपनी अन्तिम सांस ली।

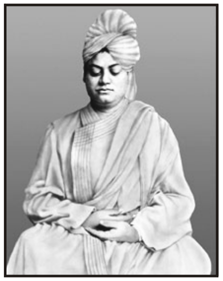

सन्यास एवं भारत भ्रमण

**जनसाधारण की उपेक्षा हमारा
सबसे बड़ा राष्ट्रीय पाप है।**

परम हंस के जीवन काल में ही एक दिन उन्होंने नरेन्द्र से पूछा–''नरेन्द्र, तू चाहता क्या है?''

नरेन्द्र नाथ ने कहा–''मैं शुकदेव की तरह निर्विल्प समाधि द्वारा सदैव सत्, चित, आनन्द के सागर में डूब रहना चाहता हूं।''

इस पर श्री रामकृष्ण ने मीठी फटकार लगाते हुए कहा–''बार-बार यह बात कहते हुए तुझे लज्जा नहीं आती। समय आने पर जहां बट वृक्ष की भांति बढ़कर तू अनेक मनुष्यों को शांति की छाया देगा और कहां आज अपनी ही मुक्ति के लिये व्यग्र है। इतना क्षुद्र आदर्श है तेरा।''

किन्तु नरेन्द्र ने अश्रु पूर्ण नेत्रों से कहा–''निर्विकल्प समाधि के बिना मुझ शांति नहीं मिलेगी और मैं कुछ भी नहीं कर पाउँगा।'' श्री रामकृष्ण ने उत्तर दिया–''मां तुझसे सब कुछ करायेंगी और जा तुझे निर्विकल्प समाधि भी मिलेगी।''

इसके पश्चात् संध्या समय नरेन्द्र निर्विकल्प समाधि में डूब गये। इस समाधि में क्या अनुभव होता है इसका वर्णन संभव नहीं है। व्यक्ति की चेतना खो जाती है एवं एक अलौकिक प्रकाश पुंज उभरता है जो क्रमश: फैलता जाता है। यह एक अलौकिक अनुभूति है।

श्री रामकृष्ण द्वारा महासमाधि लेने के पश्चात् उनके शिष्यों को एक ऐसे स्थान की आवश्यकता थी जहां वे सब मिलकर रह सकें। किन्तु प्रश्न मकान के किराये एवं दो समय के भोजन के खर्च का था। विवेकानन्द ने यह समस्या श्री राम कृष्ण के पूर्व किन्तु सम्पन्न शिष्यों तक पहुंचाई एवं उनमें से एक सुरेन्द्र नाथ मित्र ने सहायता का आश्वासन दिया। कलकत्ता के बराहनगर मुहल्ले में एक मकान दस रुपये महीने पर किराये पर लिया गया। यह मकान टूटा फूटा एवं वीरान था एवं भुतहा मकान के नाम से जाना जाता था।

यहीं वराहनगर मठ के नाम से रामकृष्ण संघ के सन्यासियों का प्रथम केन्द्र स्थापित हुआ।

विवेकानन्द की पारिवारिक कठिनाइयां अब भी मौजूद थीं। वे प्राय: ही दिन के समय मठ छोड़कर घर चले जाते थे एवं संध्या समय लौट आते थे। मठ के नये सन्यासियों में कुछ काफी छोटी आयु के थे। उनके परिवार जन उनसे आग्रह करते थे कि नरेन्द्र भी घर जाता है अत: तुम भी घर चलो एवं शिक्षा ग्रहण करो। मठ में जीवन की आवश्यक वस्तुओं भोजन इत्यादि का अभाव भी बना रहता था। सुरेन्द्र नाथ मित्र ने यद्यपि सन्यासियों के भरण पोषण का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया था किन्तु व्यस्त रहने के कारण वे इस ओर समुचित ध्यान नहीं दे पाते थे। बाल सन्यासी प्राय: भूखे रह जाते किन्तु किसी से कुछ नहीं कहते। कभी कभी वे चावल, नमक एवं शाक भाजी से उदर पूर्ति करते। बिना मांगे जो कुछ भी मिलता उसी पर संतोष करना इन बाल एवं युवा सन्यासियों ने भली प्रकार सीख लिया था।

एक समस्या और भी थी। मठ की दिनचर्या अत्यंत शुष्क थी। भक्ति, योग, दर्शन, ज्ञान इत्यादि पर चर्चा होती रहती थी। इस नीरसता के दूर करने के लिये स्वामी विवेकानंद भजन गाते थे एवं अन्य सन्यासी अपने घर से लाए वाद्य यंत्रों पर अभ्यास करते थे।

इन समस्याओं के निराकरण हेतु विवेकानन्द निरंतर प्रयत्न शील रहते। भोजन इत्यादि का अभाव किसी सीमा तक दूर होने लगा। विवेकानन्द अब अधिकतम समय मठ में ही बिताने लगे किन्तु फिर भी युवा सन्यासी मठ की चाहरदीवारी से निकलने को व्याकुल रहते थे।

ऐसे समय में उन्हें एक सन्यासी का पत्र मिला जिसमें लिखा था कि वे पैदल ही वृन्दावन की यात्रा पर जा रहे हैं। उनके घर के लोग उन पर निरन्तर घर लौटने का दबाव बना रहे हैं। ऐसे में उन्हें डर है कि उनका सन्यासी बनने का व्रत टूट जायेगा। अत: वे मठ से दूर जा रहे हैं।

इस पत्र से विवेकानन्द व्यग्र हो उठे। वे जानते थे कि वह सन्यासी क्यों मठ छोड़कर गया है। वे स्वयं भी कहीं यात्रा पर जाना चाहते थे किन्तु उन्हें लगा कि इस प्रकार तो मठ उजाड़ हो जायेगा एवं रामकृष्ण संघ भी टूट जायेगा। अत: उन्होंने समस्त सन्यासियों को बुलाया एवं विचार विमर्श के पश्चात् यह निश्चय किया गया कि एक बार में कुछ सन्यासी तीर्थ यात्रा पर जायेंगे एवं शेष मठ में ही रहेंगे। यह भी निश्चय हुआ कि कुछ सन्यासी स्थायी रूप से मठ में ही रहेंगे।

शशि (स्वामी रामकृष्णनन्द) नामक सन्यासी ने कभी भी मठ नहीं छोड़ा एवं वे सदैव मठ के अभिभावक के रूप में कार्य करते रहे।

मठ में रहते हुए स्वामी जी का मन भी बाहर निकलने के लिये व्याकुल हो उठा था। उन्हें यह अनुभूति होने लगी थी कि उनका जीवन मात्र निर्जन स्थान में रहकर धर्म साधना के लिये नहीं है। वे मानव मात्र की कल्याण साधना में अपने को अर्पित करना चाहते थे। वे अपनी मातृभूमि का भी पुनर्जागरण चाहते थे। इस देश में जिन तीर्थ स्थलों एवं अन्य स्थानों पर आध्यात्मिक संस्कृति का विकास हुआ था उनको प्रत्यक्ष देखकर वे वहां की परम्पराओं, रीति-रिवाजों एवं जन मानस को वे भली भांति समझना चाहते थे। वे कुछ करना चाहते थे किन्तु समझ नहीं पा रहे थे कि क्या करें।

स्वामी जी ने अपनी प्रथम यात्रा सन् 1888 में प्रारंभ की। सबसे पहले वे बिहार गये एवं वहां के विभिन्न नगरों का भ्रमण करते हुए काशी पहुंचे। भिक्षाटन करके उदरपूर्ति करना, गंगा तट पर ध्यान लगाना, मन्दिरों के दर्शन एवं संतों से वार्तालाप-काशी में यह उनकी दिनचर्या थी। वहां पर वे उस समय के प्रसिद्ध संत एवं विद्वान तैलंग स्वामी एवं भास्करानन्द से मिले। तैलंग स्वामी गंगा तट पर रहकर निरंतर ध्यान में रत रहते थे। स्वामी भास्करानंद ने समस्त शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था। उनसे अनेक विषयों पर स्वामी जी का वार्तालाप हुआ। स्वामी भास्करानंद ने स्वामी जी के विषय में अपने शिष्यों से कहा-''इसके कंठ में सरस्वती विद्यमान है। इसके हृदय में ज्ञानालोक प्रदीप्त हुआ है।''

कुछ दिनों काशी में रहने के उपरांत स्वामी जी बराहनगर मठ में लौट आये। वहां वे अपने गुरु भाइयों को समझाने लगे कोशिश करने लगे कि आत्मा का दिव्यत्व एवं अखंडता केवल ग्रंथों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये। इसका आलोक साधारण व्यक्ति तक पहुंचना चाहिये। आप लोगों को वेदांत का प्रचार सर्वसाधारण में करना चाहिये। किन्तु उनके गुरुभाई यह सब समझने के लिये तैयार नहीं थे। वे आत्म मुक्ति की साधना में ही तल्लीन रहते थे।

स्वामी जी एक बार पुन: काशी पहुंचे। इस बार यहां उनकी भेंट परमहंस जी के अंतरंग शिष्य स्वामी अखडानन्द एवं एक अन्य विद्वान प्रमदादास से हुई। प्रमदा दास संस्कृत साहित्य एवं वेंदात के प्रकांड विद्वान थे। इस परिचय से स्वामी जी के समक्ष अनेक हिन्दू प्रथाओं और शास्त्रों के गूढ़ रहस्य स्पष्ट हुए।

काशी से स्वामी जी ने अयोध्या के लिये प्रस्थान किया एवं मार्ग में कई स्थानों का भ्रमण करते हुए भगवान राम की नगरी अयोध्या पहुंच गए। अयोध्या से लखनऊ एवं वहां से वृंदावन की ओर चल पड़े। वृंदावन में यमुना के किनारे पर श्री कृष्ण

के संकीर्तन में कुछ दिन बिताए। वृंदावन से आगरा होते हुए स्वामीजी हाथरस पहुंचे जहां उनकी भेंट हाथरस रेलवे स्टेशन के स्टेशन मास्टर शरत चन्द्र गुप्त नाम के युवक से हुई। शरत चन्द्र उन्हें देखते ही उनसे व्यक्तित्व से अभिभूत हो गये एवं उन्हें अपने घर लिवा ले गये। घर पर भोजन एवं विश्राम के पश्चात् शरत चन्द्र ने सन्यास लेने एवं उनका शिष्य बनने की इच्छा प्रकट की। स्वामी जी ने उनका अनुरोध स्वीकार किया एवं उन्हें सदानन्द नाम दिया गया। इस प्रकार सदानन्द स्वामी जी के प्रथम शिष्य बने। सदानन्द वराहनगर मठ में आ गये एवं बाद में वे स्वामी जी के साथ अमेरिका भी गये एवं वेदान्त के प्रचार में स्वामी जी की सहायता की।

वास्तविक भारत के दर्शन-उत्तर भारत की यात्रा से स्वामी जी 1889 में वापस आकर लगभग एक वर्ष बराहनगर मठ में ही रहे। अपनी इस यात्रा के दौरान उन्होंने गाजीपुर की एक गुफा में तपस्या रत पवहारी बाबा के विषय में सुना था। ऐसी प्रसिद्धि थी कि ये तपस्वी केवल पवन के सहारे जीवन व्यतीत करते है एवं कोई आहार ग्रहण नहीं करते। इसी कारण उनका नाम पवहारी बाबा हो गया था। ये बाबा अपनी गुफा से कभी-कभी बाहर निकलते थे। अनेक प्रयत्न करने पर भी स्वामी जी बाबा से नहीं मिल सके। तब उन्हें विचार आया कि ऐसी तपस्या से क्या लाभ जो केवल आत्मोत्थन के लिये हो। तभी से उन्होंने अपना जीवन निर्धनों की सेवा में समर्पित करने का निश्चय कर लिया।

किन्तु इस मिशन पर निकलने से पूर्व स्वामी जी भारत को इसकी समग्रता में समझ लेना चाहते थे। वे सम्पूर्ण अनुभव एवं आत्म विश्वास से परिपूर्ण होना चाहते थे। उन्होंने अपने एक सहयोगी से कहा था-''अब की बार जब मैं लौटूंगा तो समाज पर बम की भांति फट पड़ूंगा। समाज मेरे पीछे चलेगा।''

अंत में जुलाई 1890 में स्वामी जी ने मठ छोड़ दिया। भागलपुर, काशी एवं अयोध्या होते हुए वे नैनीताल पहुंच गये। अनेक हिमालयी क्षेत्रों की पदयात्रा करते हुए स्वामी जी अल्मोड़ा पहुंच गये। अल्मोड़ा से देहरादून होते हुए वे ऋषिकेश पहुंचे। यहां आकर स्वामी जी गंभीर रूप से बीमार हो गये। उनकी बीमारी का समाचार सुनकर उनके कई गुरुभाई जो आसपास की गुफाओं में तपस्या कर रहे थे उनकी देखभाल के लिये आ गये। एक सन्यासी की औषधि से स्वामी जी को चमत्कारिक रूप से लाभ हुआ एवं वे शीघ्र ही पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गये।

तब तक जनवरी 1891 आ चुका था। स्वामी जी अपने समस्त गुरु भाइयों को बुलाया और आगे अकेले ही भ्रमण करने की इच्छा प्रकट की। सबसे विदा लेकर

वे दिल्ली की ओर चल पड़े। अनेक स्थानों को देखते हुए वे अलवर पहुंच गये। मार्ग में वे कभी किसी राजा या दीवान का अतिथ्य स्वीकार करते तो कभी किसी निध न की झोंपड़ी में रात गुजारते। कभी किसी पंडित से शास्त्र चर्चा होती तो कभी किसी चौराहे पर वार्तालाप में व्यस्त दिखलाई पड़ते।

फरवरी 1891 में प्रारम्भ की गई सम्पूर्ण भारत की इस यात्रा का वर्णन प्रसिद्ध फ्रांसिसी विद्वान रोमां रोला ने स्वामी जी के जीवन पर लिखी गई अपनी पुस्तक में निम्न प्रकार किया है:-

''उन्हें उनकी यात्रा राजपुताना, अलवर, खेतड़ी, अहमदाबाद, काठियावाड़ (दिसम्बर के अंत में), जूनागढ़, पोरबंदर, (आठ से नौ महीने का प्रवास) द्वारिका, मन्दिर नगरी पालिताना, बड़ौदा, खंडवा, बम्बई, पूना, बेलगाम (अक्टूबर 1892) मैसूर से बंगलौर, कोचीन, मलाबार, श्रावणकोर रियासत, त्रिवेन्द्रम और मदुरा ले गई। वे भारतीय प्रायद्वीप के अंतिम छोर और दक्षिण भारत की वाराणसी रामायण की पुण्य भूमि रामेश्वरम् और उसके आगे महादेवी के मंदिर कन्या कुमारी 1892 के अंत में पहुंचे।''

उत्तर से दक्षिण तक की इस यात्रा में स्वामी जी ने पाया कि भारत की यह प्राचीन भूमि देवी देवताओं से भरी हुई है किन्तु उनकी असंख्य भुजाओं की अटूट श्रृंखला उनको एक ही ईश्वर में बांधे हुए है। विवेकानन्द ने उनके शरीर एवं आत्मा की एकता का अनुभव किया।

दो वर्ष की यह यात्रा अत्यंत कठोर एवं कष्टों से पूर्ण थी। एक समय का भोजन रात्रि आठ बजे, इसके बाद अगले दिन प्रात: 9 बजे एवं फिर दो दिन तक कुछ भी नहीं। कभी कभी रोटी ईंट के समान कड़ी होती थी एवं एक समय के भोजन के लिये तीन चार घरों से भिक्षा मांगनी पड़ती थी। यह क्रम महिनों तक चलता रहता था।

दो वर्ष के इस भमण में स्वामी जी के मन में कुछ धधक रहा था। वे कुछ करना चाहते थे किन्तु चित्र स्पष्ट नहीं था। कन्या कुमारी के तट पर समुद्र में दूर पर एक शिला खंड दिखलाई पड़ रहा था। वे वहां तक पहुंचना चाहते थे किन्तु नाव के लिये पैसे नहीं थे। सुंख्वार शार्क मछलियों से भरे हुए समुद्र में स्वामी जी कूद पड़े एवं तैर कर शिलाखंड तक पहुंच कर उस पर बैठकर ध्यान मग्न हो गये। 1992 के दिसम्बर मास के अंत में स्वामी जी तीन दिन तक ध्यान लगाये बैठे रहे। भारत के अंतिम शिलाखंड पर बैठकर वे अपने देश के वर्तमान एवं भविष्य के विषय में

ध्यान में मग्न हो गये। उन्होंने भारत के पतन के कारणों को ढूंढा तथा एक मन्त्रदृष्टा की अन्तर्दृष्टि से उन्होंने देख लिया कि उन्नति के शिखर से पतन के गर्त में भारत कैसे गिरा। अब वे एक सन्यासी के स्थान पर महान सुधारक, संगठनकर्ता एवं राष्ट्र निर्माता में परिवर्तित हो गये थे। अब इस शिला खंड पर विवेकानंद शिला स्मारक के नाम से एक मंदिर का निर्माण हो गया है।

बराहनगर मठ में उनका सन्देश निम्न प्रकार पहुंचा-

''में सारे भारत में घूम चुका हूं, पर हे बन्धुओं मेरे लिये यह दारुण कष्ट था। मैंने जन साधारण की भयंकर निर्धनता और पीड़ा को अपनी आंखों से देखा और मैं अपने आंसू नहीं रोक सका। अब मेरा दृढ़ विश्वास है कि बिना पहिले उनके कष्ट एवं गरीबी दूर किये, उनमें धर्म का प्रचार व्यर्थ है। इसी कारण दरिद्र भारत की मुक्ति के साधन जुटाने के लिये मैं अब अमेरिका जा रहा हूं।''

शिला स्मारक कन्याकुमारी

शिकागो विश्व धर्म सम्मेलन

> समस्त मानवता के उत्थान के लिये कार्य करो। अपनी संकीर्ण सीमाओं बंधकर केवल अपने धर्म पर गर्व करना छोड़ो।

अपनी इस लम्बी यात्रा के दौरान स्वामी जी ने अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित किये जाने वाले विश्वधर्म सम्मेलन के विषय में सुना था। कुछ लोगों ने उनसे इस सम्मेलन में जाने का आग्रह भी किया था। उनकी इच्छा भी वहाँ जाने की थी।

कन्या कुमारी की यात्रा से लौटकर स्वामी जी का अमेरिका जाकर विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेने का दृढ़ निश्चय हो गया। उनके शुभ चिन्तक एवं मित्र उनके इस निर्णय से अत्यंत प्रसन्न हुए। खेतड़ी नरेश ने इस यात्रा के लिये आवश्यक धन की व्यवस्था की।

31 मई 1893 को स्वामी जी मुम्बई से जलयान में सवार होकर यात्रा पर निकल पड़े। पगड़ी बांधे हुए उनका भगवा परिधान एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व अन्य यात्रियों को आकर्षित करने वाला था। जहाज का प्रथम पड़ाव श्रीलंका में कोलंबो नगर में था। सिंगापुर होते हुए वे टोक्यो पहुंचे। मार्ग में इस स्थानों के दर्शनीय स्थलों को उन्होंने देखा। इस जलयान से 15 जुलाई को कनाडा के वैंकुअर बन्दरगाह पर उतरकर स्वामी जी ट्रेन द्वारा शिकागो पहुंच गये।

शिकागो में सूचना केन्द्र पर पहुंच कर स्वामी जी को पता लगा कि जो सम्मेलन जुलाई में होना था वह सितम्बर तक के लिये स्थगित कर दिया गया है।

साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि सम्मेलन में प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लेने के लिये किसी प्रतिष्ठित संस्था का प्रमाण पत्र आवश्यक है। यह भी बताया गया कि नामांकन भरने का समय भी निकल चुका है। शिकागों अत्यंत महंगा शहर था अत: सम्मेलन तक वहां रहना स्वामी जी के लिये संभव नहीं था। उन्हें बतलाया गया कि बोस्टन नगर कम महंगा है। स्वामी जी बोस्टन पहुंचे एवं वहां उनके आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर एक धनाढ्य महिला केट सेन बोर्न ने उन्हें अपने यहां ठहरने का निमंत्रण दिया। खर्च बचाने के लिये उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। बोस्टन में ही ग्रीक भाषा के प्रसिद्ध प्रोफेसर के.एच. राइट से उनकी भेंट हुई। प्रोफेसर साहब स्वामी जी के व्यक्तितव से इतने प्रभावित हुए कि धर्म सम्मेलन में प्रतिनिधित्व दिलाने की जिम्मेदारी उन्होंने अपने ऊपर ले ली। उन्होंने सम्मेलन के अध्यक्ष को एक पत्र लिखा जिसमें कहा गया था ''इनकी विद्वता हमारे सभी विद्वान अध्यापकों से अधिक है।''

स्वामी जी पुन: शिकागो पहुंचे किन्तु वहां दुर्भाग्यवश स्वागत समिति का पता उनसे खो गया। उन्हें वह रात मालगाड़ी के एक डिब्बे में बितानी पड़ी। प्रात:काल निराश होकर स्वामी जी सड़क के किनारे बैठे हुए थे तभी एक धनी महिला जार्ज डब्लु हेब से उनकी भेंट हुई। महिला ने स्वामी जी को भोजन कराया एवं सम्मेलन के अध्यक्ष से मिलवाया।

इस प्रकार स्वामी जी का धर्म सम्मेलन में भाग लेने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

अंत में 11 सितम्बर 1893 का दिन आ पहुंचा एवं विश्वधर्म सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन स्थल आर्ट इंस्टीच्यूट लगभग सात हजार लोगों से खचाखच भरा हुआ था। विश्व के प्रत्येक कोने से विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधि आये हुए थे। स्वामी जी ने इसके पूर्व कभी इतनी प्रबुद्ध तथा विशाल सभा को सम्बोधित नहीं किया था। वे घबरा गये। एक के बाद एक प्रतिनिधियों का परिचय कराया जाता था एवं वे पहिले से तैयार किया गया अपना संक्षिप्त भाषण पढ़ते थे और अपना स्थान ग्रहण कर लेते थे। स्वामी जी की बारी घंटों बाद एवं लगभग अंत में आई। वे बिना किसी तैयारी के सम्मेलन में आये थे। उनके पास कोई लिखित भाषण भी नहीं था। अपनी बारी आने पर जब वे बोले तो, उनकी वाणी में मानों देवी सरस्वती झंकृत हो उठी। उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी में संबोधित किया–''अमेरिका वासी बहिनों और भाइयों।'' इन शब्दों का जादू जैसा प्रभाव पड़ा एवं समस्त श्रोता अपने स्थान पर खड़े होकर करतल ध्वनि करने लगे। दो मिनट तक यह क्रम चलता रहा। वे एक मात्र ऐसे वक्ता थे

जिन्होंने औपचारिक शब्दों के स्थान पर इन आत्मीय शब्दों द्वारा श्रोताओं को संबोधित किया था।

स्वामी जी ने अपने संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित भाषण में हिन्दू धर्म को सब धर्मों की माता बतलाया। अन्य सभी वक्ताओं ने अपने ईश्वर और अपने ही सम्प्रदाय की बात की थी। सिर्फ वे ही अकेले थे जिन्होंने उन सबके ईश्वर की चर्चा की और उन सबको एक सार्वभौम सत्ता में आबद्ध कर दिया। **(स्वामी जी के विस्तृत भाषण के लिए परिशिष्ट १ देखें।)**

दूसरे दिन समाचार पत्रों ने उन्हें धर्म सम्मेलन का सर्वश्रेष्ठ वक्ता घोषित किया। हाथ में भिक्षा का पात्र लिये घूमने वाला यह सन्यासी अब युग पुरुष हो गया था।

यह सम्मेलन सत्रह दिन तक चला। इसी बीच लगभग दस बार उन्हें सम्मेलन में बोलने का अवसर मिला। स्वामी जी का भाषण सबसे अन्त में रखा जाता था एवं श्रोतागण उन्हें सुनने के अन्तिम क्षण तक कुर्सियों से चिपके रहते थे। अखबार उनकी खबरों से भरे रहते थे। सड़कों पर उनके आदम कद चित्र टांग दिये गये थे।

धर्म सम्मेलन का उपसंहार 27 सितम्बर को हुआ। स्वामी जी ने सम्मेलन को अपने अन्तिम संदेश में कहा–''यह समय आयेगा जब प्रत्येक धर्म की पताका पर लिखा होगा–''युद्ध नहीं शांति, विनाश नहीं निर्माण, मतभेद और कलह नहीं–मित्रता एवं मित्रता।''

सम्मेलन के पश्चात् स्वामी जी अमेरिका के विभिन्न नगरो में व्याख्यान देने गये। इन तूफानी दौरों के कारण उन्हें तूफानी हिन्दू की संज्ञा दी गई। वे अपने भाषणों में ईसाई धर्म के मिथ्याचार के विरुद्ध भी वे कठोरता से बोले एवं कई स्थानों पर उन्हें विरोध का सामना भी करना पड़ा। किन्तु वे निर्भीकता पूर्वक अपने सिद्धांतों पर डटे रहे।

सन् 1895 में अगस्त से दिसम्बर तक स्वामी जी इंग्लैंड की यात्रा पर रहे। तत्पश्चात वे अमेरिका वापस लौटे। पुन: अप्रैल 1896 में उन्होंने इंगलैंड की यात्रा की एवं कहीं से 16 दिसम्बर को स्वदेश के लिये रवाना हो गये।

विजेता की स्वदेश वापसी

> हमें चाहिये कि हम अपना कर्तव्य करते रहें। अपना कंधा सदैव काम में लगाये रहें। हमें प्रकाश की उपलब्धि होगी।

लगभग 3 वर्ष विदेशों में बिताकर 16 दिसम्बर 1896 को स्वामीजी स्वदेश के लिये रवाना हुए। इस वापसी यात्रा में सेवियर दम्पति भी उनके साथ थे। वे 15 जनवरी 1897 को कोलम्बो पहुंचे। अब वे भारत के एक अपरिचित सन्यासी नहीं थे। कोलम्बो के सिटी हाल में उनका भव्य स्वागत हुआ। लंका के निवासियों के उत्साह को देखते हुए उन्होंने जलयान से सीधे मद्रास जाने का विचार छोड़ दिया एवं पूरे द्वीप की यात्रा करके स्थल मार्ग से मद्रास पहुंचे।

मद्रास में हजारों लोगों ने उनका स्वागत किया। वहां उन्होंने पांच भाषण दिये। उनका भूल स्वर था–''अन्ध विश्वास और दुर्बलता के दूर फेंककर नवीन भारत के निर्माण में कटिबद्ध होकर जुट जाओ।'' उनका कथन था कि भारत के राष्ट्रीय जीवन का मूल स्रोत धर्म है। यह एक ऐसा धर्म है जो विश्व की आध्यात्मिक एकता का प्रतिपादन करता है। पुराने अन्ध विश्वासों से चिपटे रहना और पश्चिम का अन्धा अनुकरण करना दोनों ही हानिकारक हैं।

20 फरवरी 1897 को स्वामी जी मद्रास से कलकत्ता पहुंचे। वहीं उनका अभूत पूर्व सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया। वहां उपस्थित लोगों का आव्हान करते हुए उन्होंने कहा–''अगले पचास वर्षों के लिये राष्ट्र ही हमारा देवता हो। ये सब मनुष्य एवं पशु भी हमारे देवता हैं–उनकी सेवा ही पूजा है। ये ही तुम्हारे ईश्वर हैं और तुम्हारे प्रथम उपास्य तुम्हारे देशवासी ही हैं।''

रामकृष्ण मिशन की स्थापना–पश्चिम की अपनी यात्रा के दौरान स्वामी जी संगठन की शक्ति देख चुके थे। वे धर्म का प्रचार एवं जनता की सेवा दोनों को ही व्यवस्थित एवं संगठित रूप से करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने समस्त सन्यासियों की एक बैठक बुलाई एवं उन्हें समझाने का प्रयत्न किया कि बिना संगठन

के कोई स्थायी कार्य नहीं हो सकेगा। समस्त सदस्यों को केवल आत्म साधना का मार्ग एवं पूर्वाग्रहों को त्यागना होगा। इस बैठक में निश्चय किया गया कि रामकृष्ण मिशन के नाम से एक संस्था की स्थापना की जायेगी जो श्री रामकृष्ण के आदर्शों एवं विचारों का प्रचार करेगी, शिल्प एवं उद्योगों की प्रोत्साहित एवं विकसित करेगी तथा वेदांत एवं धार्मिक विचारों को जन साधारण तक पहुंचायेगी। मिशन के लक्ष्य और आदर्श पूर्णत: आध्यात्मिक एवं मानवीय होंगे एवं उनका राजनीति से कोई संबंध नहीं होगा। इस प्रकार 1 मई 1997 को राम कृष्ण मिशन की स्थापना हुई।

इसके कुछ समय पश्चात् स्वामी जी उत्तर भारत की यात्रा पर निकल पड़े। लखनऊ, अल्मोड़ा, पंजाब, कश्मीर, देहरादून, दिल्ली, राजस्थान इत्यादि होते हुए वे खंडवा तक गये।

मार्च, 1898 में कलकत्ता में प्लेग फैल गया एवं उसके निवारण हेतु स्वामी जी कलकत्ता लौट आये।

मार्च 1899 में उन्होंने अल्मोड़ा के निकट मायावती नामक स्थान पर अद्वैत आश्रम की स्थापना की। यह आश्रम सेवियर दम्पत्ति के धन से उन्हीं की अध्यक्षता में बनाया गया। सेवियर दम्पति इंगलैंड के निवासी थे एवं उनचास वर्ष के श्री सेवियर सेना के सेवा निवृत्त कप्तान थे। वे स्वामी जी को सन्तानवत मानते थे। उन्होंने अपना समस्त जीवन इसी मठ में निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करते हुए एवं इस स्थान के निवासियों की सेवा में व्यतीत किया।

स्वामी जी की एक अन्य विदेशी शिष्या का परिचय देना भी आवश्यक है जो सिस्टर निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुईं। उनका वास्तविक नाम मार्गरेट नोबल था एवं वे लंदन के एक स्कूल में प्रधान अध्यापिका थीं। अपने स्कूल में स्वामी जी का एक व्याख्यान सुनकर वे उनके आध्यात्मिक आकर्षण में बंध गई। अठ्ठाइस वर्ष की आयु में जनवरी 1898 में वे भारत आ गईं। उन्होंने हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया और इस छोटी आयु में सन्यास लेकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया। स्वामी जी को पश्चिम में लोक प्रिय बनाने एवं उनके आदर्शों का प्रचार करने में सिस्टर निवेदिता ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

पुनः विदेश यात्रा

> हृदय उत्साह से परिपूर्ण रखो एवं सबको प्रेरित करो। नेतृत्व करते हुए भी सेवक का भाव रखो। स्वार्थ से परे रहो एवं धैर्य रखो। सफलता अवश्य मिलेगी।

अमेरिका में स्वामी अभेदानन्द सहित स्वामी जी के अनेक शिष्य धर्म प्रचार में लगे हुए थे। वे उन्हें वहां आने के लिये लिखते रहते थे। भारत में राम कृष्ण आश्रम की स्थापना हो चुकी थी एवं स्वामी जी अनेक स्थानों की यात्रा भी कर चुके थे। अत: पश्चिम में प्रारम्भ किये कार्यों को देखने एवं प्रोत्साहन देने के लिये वे वहां की यात्रा पुन: करना चाहते थे।

उनकी यह यात्रा 20 जून 1899 को कलकत्ता से प्रारम्भ हुई। चलते समय उन्होंने कहा–''पिछली बार पश्चिम ने क्षत्रिय योद्धा को देखा था। इस बार मैं उन्हें ब्राह्मण दिखाना चाहता हूं।'' जलयान में उनके साथ स्वामी तुरीयानन्द तथा सिस्टर निवेदिता भी थीं।

मद्रास, कोलम्बो, अदन होता हुए जहाज 31 जुलाई को लन्दन पहुंचा। वहां दो सप्ताह रुकने के पश्चात् वे न्यूयार्क के लिये रवाना हो गये। न्यूयार्क पहुंचकर उन्होंने न्यूयार्क, न्यु जर्सी, लास एन्जिल्स, शिकागो, डिट्रायट इत्यादि नगरों में अनेक भाषण दिये।

पूर्व और पश्चिम की इन यात्राओं को करने के पश्चात् स्वामी जी को विश्वास हो गया कि पूर्व और पश्चिम के सहयोग की अत्यंत आवश्यकता है। पश्चिम की भौतिकवादी चमक दमक उन्हें आकर्षित नहीं कर पा रही थी और न ही आध्यात्मिकता पर बल देने वाला भारत अपनी आर्थिक एवं सामाजिक कमियों को छिपा पा रहा था।

उन्होंने सिस्टर निवेदिता से कहा–''पश्चिम का सामाजिक जीवन एक बाह्य अहसास है, जिसके पीछे एक करुण क्रन्दन छिपा हुआ है एवं अन्तिम परिणति सिसकियों में होती है। भारत की सुबह पर दुख एवं अवसाद की छाया है किन्तु अन्तराल में निश्चिन्तता एवं आनन्द है। पश्चिम ने बाह्य प्रकृति को जीतने का प्रयास किया है एवं पूर्व ने आन्तरिक प्रकृति को। अब समय आ गया है कि अपनी अपनी विशेषताओं को अक्षुण्ण रखते हुए उन्हें परस्पर हाथ मिलाकर एक दूसरे के कल्याण के लिये कार्य करना होगा। दोनों को एक दूसरे से बहुत कुछ सीखना होगा। भविष्य का निर्माण वस्तुत: दोनों के आदर्शों को मिलाकर ही होगा। तब न पूर्व होगा, न पश्चिम एवं होगी केवल मानवता।''

इस यात्रा की उल्लेखनीय उपलब्धि थी स्वामी तुरीयानन्द के संचालन में उत्तरी कैलोफोनिया में शान्ति आश्रम की स्थापना। सेनफ्रान्सिसको में भी एक वेदान्त आश्रम की स्थापना की गई।

अब वे भारत लौटने के लिये व्याकुल हो उठे थे। वास्तव में उनका शरीर धीरे धीरे रुग्ण हो चला था। सन् 1888 की प्रथम भारत यात्रा से सन् 1900 तक उन्होंने कठोर एवं अथक परिश्रम किया था। समस्त भारत एवं लगभग समस्त विश्व के भ्रमण ने उनके शरीर को जर्जर कर दिया था। उन्हें लगने लगा था कि अब वे बहुत अधिक जीवित नहीं रहेंगे।

वापसी यात्रा में 20 जुलाई को उन्होंने अटलांटिक सागर को पार किया एवं पेरिस पहुंचे जहां एक अगस्त को उन्हें यूनीवर्सल एक्सपोजीशन नामक सम्मेलन में भाग लेना था। यह विशुद्ध इतिहास एवं विज्ञान का सम्मेलन था जहां उन्हें इस प्रश्न की विवेचना का भार सौंपा गया कि क्या वैदिक धर्म की उत्पत्ति प्रकृति पूजा से हुई है। स्वामी जी वेद पर बोले एवं हिन्दू तथा बौद्ध धर्म का आधार वेद को ही सिद्ध किया।

पेरिस से कुछ मित्रों के साथ स्वामी जी हंगरी, रूमानिया, सर्विचा, बुल्गारिया इत्यादि होते हुए काहिरा पहुंचे। इन नगरों में अनेक म्युजियम तथा दर्शनीय स्थानों को देखते हुए अनेकानेक विद्वानों से भेंट करते हुए अन्त में 9 दिसम्बर 1900 को वेलुर मठ पहुंच गये।

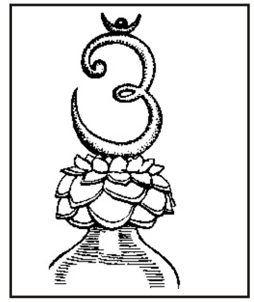

भारत में अन्तिम दिन एवं महाप्रयाण

> जीवन संघर्ष है। मैं संघर्ष करते हुए मृत्यु का वरण करूंगा।

स्वामी जी जहाज से मुम्बई पहुंचे और वहां से ट्रेन द्वारा तुरंत ही कलकत्ता के लिये प्रस्थान किया। इस बार वे भाषण, अभिनन्दन इत्यादि से दूर रहना चाहते थे अत: अपने आगमन का समाचार उन्होंने गुप्त रखा। उनके गुरुभाई उन्हें अचानक आया देखकर प्रसन्नता से झूम उठे। मठ में उन्हें श्री सेवियर के निधन का समाचार मिला। श्रीमती सेवियर को सांत्वना देने के लिये वे 27 दिसम्बर 1900 को मायावती गये। वहां का शीत असह्य था एवं स्वामी जी का शरीर निर्बल हो चला था अत: वे 23 जनवरी को वहां से बेलूर मठ वापस आ गये।

स्वामी जी की माता जी अभी जीवित थीं एवं उन्हें तीर्थयात्रा की बड़ी इच्छा थी। वे अपनी मां की कोई सेवा नहीं कर सके थे अत: अपने कमजोर स्वास्थ्य के बावजूद भी वे माता जी एवं कुछ सन्यासियों के साथ वे पूर्वी बंगाल एवं आसाम के तीर्थों के दर्शन के लिये निकल पड़े। सर्वप्रथम वे ढाका पहुंचे जहां उनका हार्दिक स्वागत हुआ। 30 मार्च को वहां के एक महाविद्यालय में दो हजार लोगों के सामने ''मैंने क्या सीखा है'' विषय पर उन्होंने दो घंटे अंग्रेजी में भाषण दिया। उसके अगले दिन ''मेरा जन्मजात धर्म'' विषय पर वे तीन हजार लोगों के सामने दो घंटे तक बोले।

इसके पश्चात् स्वामी जी ने कामाख्या पीठ एवं गुवाहाटी की यात्रा की। उनका स्वास्थ्य निरंतर गिरता जा रहा था। अंतत: शिलांग होते हुए वे बेलूर मठ लौट आये। उनका दमा तथा मधुमेह दोनों ही बहुत बढ़ गये थे। चिकित्सकों के परामर्श के अनुसार वे पूर्ण विश्राम करते हुए पथ्य एवं औषधि दोनों ही लेने लगे।

भयंकर शारीरिक कष्ट एवं अनिद्रा के बावजूद स्वामी जी की स्मरण शक्ति कितनी प्रखर बनी हुई थी इसका पता एक घटना से लगता है। उन्हीं दिनों मठ में 'ब्रिटेनिया ऐन्सोइक्लोपीडिया'' नामक पुस्तक के दस खंड खरीदे गये थे। स्वामी जी के एक शिष्य ने कहा कि एक जीवन में इस पुस्तक को पढ़ना बड़ा कठिन है। स्वामी जी ने कहा–''आप इन दस पुस्तकों में से जो भी पूछना हो पूछ सकते हैं।''

शिष्य ने विस्मित होकर पूछा–''क्या आपने इन समस्त पुस्तकें को पढ़ लिया हैं?'' स्वामी जी ने उत्तर दिया कि क्या मैं ऐसे ही कह रहा हूं। शिष्य ने प्रत्येक खंड से चुन चुनकर प्रश्न पूछे एवं स्वामी ने शब्दश: उनके उत्तर दे दिये। शिष्य आश्चर्य चकित रह गया।

सन् 1902 में जापान के दो बौद्ध विद्वान स्वामी जी के लिये जापान में होने वाले धर्म सम्मेलन का निमंत्रण लेकर कलकत्ता आये। स्वामी जी इस निमंत्रण को तो स्वीकार नहीं कर सके किन्तु उन विद्वानों के साथ बोधगया तथा वाराणसी गये।

स्वामी जी का स्वास्थ्य निरंतर गिरता जा रहा था। उनके पैर सूज गये थे। नमक तथा जल का सेवन बिल्कुल बन्द कर दिया गया था। उन्हीं दिनों मठ में श्री राम कृष्ण देव का जयंती समारोह मनाया गया जिसमें 30 हजार से अधिक श्रद्धालु भाग लेने पहुंचे। किन्तु स्वामी जी इसमें भाग नहीं ले सके एवं दूसरी मंजिल के अपने कमरे से ही सब कुछ देखकर उन्हें सन्तोष करना पड़ा।

स्वामी जी को अपने महाप्रयाण का आभास हो गया था। 4 जुलाई 1902 को उन्होंने सुबह 8 से 11 तक ध्यान किया। संध्या समय भी वे एक घंटे ध्यान में लीन रहे। रात्रि 9 बजे वे जप माला लिये हुए ही लेटे रहे। कुछ समय पश्चात् उन्होंने दो दीर्घ निश्वास ली एवं उनके प्राण अनन्त में लीन हो गये। उस समय रात्रि के 9 बजकर 10 मिनट हुए थे।

वे ठीक 38 वर्ष 5 माह 24 दिन जीवित रहे। मठ के प्रांगण में ही चन्दन की लड़की की चिता सजाई गई एवं उस पर उनके पार्थिव शरीर को रखा गया एवं अग्नि प्रज्वलित कर दी गई। आज उसी स्थान पर एक भव्य मंदिर विराजमान है जो हम सबको उस दिव्य आत्मा का अनुसरण करने की प्रेरणा देता है।

वेलूर मठ, कोलकाता

परिशिष्ट प्रथम

शिकागो विश्व धर्म सम्मेलन में दिये गये भाषण का हिन्दी अनुवाद

अमेरिकावासी बहिनों और भाइयों,

आज जब मैं आपके द्वारा किये गये आदर एवं सौहार्द से परिपूर्ण स्वागत के उत्तर में कुछ कहने के, लिये खड़ा हुआ हूं तो मेरा हृदय आनन्द से भर उठा है। मैं संसार के सबसे प्राचीन सन्यासियों के वर्ग की ओर से, समस्त धर्मों की जननी की ओर से एवं प्रत्येक वर्ग एवं मत के लाखों हिन्दुओं की ओर से आपको धन्यवाद देता हूं।

इस मंच से बोलने वाले उन कुछ वक्ताओं का भी मैं धन्यवाद देता हूं जिन्होंने पूर्व के देशों से आने वाले प्रतिनिधियों के विषय में कहा है कि इन प्रतिनिधियों ने विभिन्न देशों को सहनशीलता का विचार देने का सम्मान प्राप्त किया है।

मुझे गर्व है कि मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी हूं जिसने विश्व को सहनशीलता एवं सार्वभौमिकता की स्वीकृति का पाठ पढ़ाया है। हम केवल सार्वभौमिक सहनशीलता में ही विश्वास नहीं रखते है अपितु सब धर्म सत्य हैं, यह भी मानते हैं। मुझे उस देश का निवासी होने का गर्व है जिन्होंने इस पृथ्वी के समस्त धर्मों एवं राष्ट्रों के पीड़ितों एवं शरणार्थियों को शरण दी है। मैं गर्व से कह सकता हूं कि जब रोम के अत्याचारी शासकों ने इस्राइल के पवित्र मंदिर के खंड खंड कर दिये थे एवं वहां के शेष निवासियों ने दक्षिण भारत में शरण ली थी तो हमने उन्हें अपने हृदय से लगाया था। मैं उस धर्म का अनुयायी हूं जिसने यहूदियों को शरण दी थी एवं आज भी उनका पालन पोषण कर रहा हैं। प्रिय बन्धुओं! मैं उस पुस्तक की कुछ पंक्तियां दुहराना चाहता हूं जिन्हें मैं बचपन से दुहराता रहा हूं और आज भी लाखों लोग उन्हें दुहराते हैं–''मनुष्य अपने स्वभाव के अनुरूप पृथक मार्गों पर चलते है एवं उनसे विभिन्न मत निकल पड़ते हैं। यद्यपि ये मार्ग सरल या टेढ़े मेढ़े होते हैं किन्तु ये सब उसी एक ईश्वर तक पहुंचते हैं।''

यह सम्मेलन जो कि अब तक हुए इस प्रकार के सम्मेलनों में सर्वश्रेष्ठ है, गीता द्वारा विश्व को दिये गये, इस विलक्षण सिद्धान्त को न्यायसंगत ठहराता है–''जो भी जिस रूप में जिन मार्गों से भी मुझे पाने के लिये संघर्ष कर रहे हैं वे मुझ तक ही पहुंचते हैं।''

साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता एवं इनसे उत्पन्न होने वाली कट्टरता ने इस सुरम्य धरती को अनेक वर्षों से अपने पाश में जकड़ रखा है। इन्होंने पृथ्वी को हिंसा से परिपूर्ण किया है, इसे अनेकों बार मानव रक्त से नहलाया है, सभ्यताओं का विध्वंस किया है एवं अनेक राष्ट्रों को निराशा के गर्त में धकेला है। यदि ये भयानक राक्षस न होते तो मानव समाज अपनी वर्तमान दशा से कहीं बेहतर स्थिति में होता। किन्तु अब उनका समय आ चुका है एवं मुझे पूर्ण आशा है कि आज प्रात: काल इस सम्मेलन के स्वागत में जो घंटियां बजाई गई थीं वे समस्त प्रकार की कट्टरता, तलवार या कलम से पहुंचाई जाने वाली यातनाओं एवं उस एक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील लोगों के मध्य पनपी शत्रुतापूर्ण भावनाओं की समाप्ति की सूचना देने वाली ध्वनियां प्रमाणित होंगी।

★ ★ ★ ★ ★

स्वामी जी द्वारा विश्व धर्म सम्मेलन में दिये गये समापन भाषण के कुछ अंश

बीज भूमि में बो दिया गया और मिट्टी, वायु तथा जल उसके चारों ओर रख दिये गये। तो क्या वह बीज मिट्टी हो जाता हैं, अथवा वायु या जल बन जाता हैं? नहीं, वह तो वृक्ष ही होता है, वह अपनी वृद्धि के नियम से ही बढ़ता हैं-वायु, जल और मिट्टी को पचाकर, उनको उद्भित पदार्थ में परिवर्तित करके एक वृक्ष हो जाता हैं।

ऐसा ही धर्म के संबंध में भी हैं। ईसाई को हिंदू या बौद्ध नहीं हो जाना चाहिए, और न ही हिंदू अथवा बौद्ध को ईसाई ही। पर हां, प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरों के सारभाग को आत्मसात् करके पुष्टि लाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी बुद्धि के नियम के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो।

इस धर्म-महासभा ने जगत् के समक्ष यदि कुछ प्रदर्शित किया हैं, तो वह यह है। उसने सिद्ध कर दिया हैं कि शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी संप्रदाय विशेष की ऐकांतिक संपत्ति नहीं है एवं प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ एवं अतिशय उन्नतचरित्र स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया हैं। अब इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद भी कोई ऐसा स्वप्न देखें कि अन्य सारे धर्म नष्ट हो जाएंगे और केवल उसका धर्म ही जीवित रहेगा, तो उस पर मैं अपने हृदय के अंतराल से दया करता हूं और उसे स्पष्ट बतलाए देता हूं कि शीघ्र ही सारे प्रतिरोधों के बावजूद प्रत्येक धर्म की पताका पर यह लिखा रहेगा-सहायता करो, लडो मत; 'परभाव-ग्रहण, न कि परभाव-विनाश'; 'समन्वय और शान्ति, न कि मतभेद और कलह!'

परिशिष्ट द्वितीय

स्वामी विवेकानंद के जीवन की महत्त्वपूर्ण तिथियां

12 जनवरी, 1863	:	कलकत्ता में जन्म
नवंबर 1881	:	श्रीरामकृष्ण परमहंस से प्रथम भेंट
सन् 1884	:	स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण; पिता का स्वर्गवास
16 अगस्त, 1886	:	श्रीरामकृष्ण परमहंस का निधन
सन् 1886	:	वराह नगर मठ की स्थापना
सन् 1890-1893	:	परिव्राजक के रूप में भारत-भ्रमण
1 फरवरी 1892	:	सिकन्दराबाद में स्वामी जी का प्रथम सार्वजनिक भाषण
24 दिसंबर, 1892	:	कन्याकुमारी में
31 मई, 1893	:	बंबई से अमेरिका रवाना
30 जुलाई, 1893	:	शिकागो आगमन
11 सितंबर, 1893	:	विश्व धर्म सम्मेलन, शिकागो में प्रथम व्याख्यान
27 सितंबर, 1893	:	विश्व धर्म सम्मेलन, शिकागो में अंतिम व्याख्यान
नवंबर 1894	:	न्यूयॉर्क में वेदांत समिति की स्थापना
30 दिसंबर, 1896	:	नेपल्स से भारत की ओर रवाना
15 जनवरी, 1897	:	कोलंबो, श्रीलंका आगमन
19 फरवरी, 1897	:	कलकत्ता आगमन
1 मई, 1897	:	रामकृष्ण मिशन की स्थापना
19 मार्च, 1899	:	मायावती में अद्वैत आश्रम की स्थापना
20 जून, 1899	:	पश्चिमी देशों की दूसरी यात्रा
14 अप्रैल, 1900	:	सैन फ्रांसिस्को में वेदांत समिति की स्थापना
26 नवंबर, 1900	:	भारत रवाना
9 दिसंबर, 1900	:	बेलूर मठ आगमन
मार्च 1902	:	बेलूर मठ में वापसी
4 जुलाई, 1902	:	महासमाधि।

स्वामी विवेकानन्द की अमर वाणी

कर्म

जब तुम कोई काम करो तब अन्य किसी बात का विचार ही मत करो; उसे एक उपासना के–बड़ी से बड़ी उपासना–की भांति करो और उस समय तक के लिए उसमें अपना सारा तन–मन लगा दो।

कर्म करके कर्मफल की आकांक्षा न करना, किसी मनुष्य की सहायता करके उससे किसी प्रकार की कृतज्ञता की आशा न रखना, कोई सत्कर्म करके भी इस बात की ओर ध्यान तक न देना कि वह हमें यश और कीर्ति देगा अथवा नहीं–इस संसार में सबसे कठिन बात है। संसार जब प्रशंसा करने लगता है, तब एक कायर व्यक्ति भी बहादुर बन जाता है। समाज के समर्थन तथा प्रशंसा से एक कायर भी वीरोचित कार्य कर सकता है; परन्तु अपने आस–पास के लोगों की निंदा–स्तुति की बिलकुल परवाह न करते हुए सर्वथा सत्कार्य में लगे रहना वास्तव में सबसे बड़ा त्याग है।

प्रत्येक देश में कुछ ऐसे नर–रत्न होते हैं, जो केवल कर्म के लिए ही कर्म करते हैं। वे नाम–यश अथवा स्वर्ग की भी परवाह नहीं करते। वे केवल इसलिए कर्म करते हैं कि उसमें कुछ कल्याण होगा। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो और भी उच्चतर उद्देश्य लेकर गरीबों के प्रति भलाई तथा मनुष्य जाति की सहायता करने के लिए अग्रसर होते हैं, क्योंकि वे शुभ में विश्वास करते हैं और उससे प्रेम करते हैं। नाम तथा यश के लिए किया गया कार्य बहुधा शीघ्र फलित नहीं होता। ये चीजें हमें उस समय प्राप्त होती है, जब हम वृद्ध हो जाते हैं और जिंदगी की आखिरी घड़ियां गिनते रहते हैं।

★ ★ ★ ★

आत्मविश्वास

हमारा पहला कर्तव्य यह है कि अपने प्रति आत्महीनता की भावना न रखें क्योंकि आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि पहले हम स्वयं में विश्वास रखें और फिर ईश्वर में! जिसे स्वयं में विश्वास नहीं उसे ईश्वर में कभी भी विश्वास नहीं हो सकता।

★ ★ ★ ★

आगे बढ़ो

यदि हम एक जगह स्थिर रहेंगे तो हमारी मृत्यु अनिवार्य है। हमें या तो आगे बढ़ना होगा या पीछे हटना होगा–हमें उन्नति करते रहना होगा, नहीं तो हमारी अवनति अपने आप होती जाएगी। हमारे पूर्व–पुरुषों ने प्राचीन काल में बहुत बड़े–बड़े काम किए हैं; पर हमें उनकी अपेक्षा भी उच्चतर जीवन का विकास करना होगा तथा उनकी अपेक्षा और भी महान् कार्यों की ओर अग्रसर होना पड़ेगा।

★ ★ ★ ★

दान

दान से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। सबसे नीच मनुष्य वह है, जिसका हाथ सदा अपनी ओर रहता है–और जो अपने ही लिए सब पदार्थों को लेने में लगा रहता है। और सबसे उत्तम पुरुष वह है, जिसका हाथ बाहर की ओर है तथा जो दूसरों को देने में लगा है। हाथ इसीलिए बनाए गए हैं कि सदा दान देते रहो। तुम स्वयं भूखे रहकर भी अपने पास का रोटी का अंतिम टुकड़ा, अन्न का अंतिम ग्रास तक दूसरों को दे डालो।

★ ★ ★ ★

दुर्बलता

दुर्बलता से मनुष्य गुलाम बनता है। दुर्बलता से ही सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दु:ख आते हैं। दुर्बलता ही मृत्यु है। लाखों–करोड़ों कीटाणु हमारे आस–पास हैं; पर जब तक हम दुर्बल नहीं होते, जब तक शरीर उनके प्रति पूर्व–प्रवृत्त नहीं होता तब तक वे हमें कोई हानि नहीं पहुंचा सकते।

बलहीन को ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती, अत: दुर्बल कदापि न बनो। तुम्हारे अंदर असीम शक्ति है, तुम्हें शक्तिशाली बनना है। अन्यथा तुम किसी भी वस्तु पर विजय कैसे प्राप्त करोगे? शक्तिशाली हुए बिना तुम ईश्वर को कैसे प्राप्त कर सकोगे बलहीन को ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती, अत: दुर्बल कदापि न बनो। तुम्हारे अंदर असीम शक्ति है, तुम्हें शक्तिशाली बनना है। अन्यथा तुम किसी भी वस्तु पर विजय कैसे प्राप्त कर सकोगे?

★ ★ ★ ★

धर्म

धर्म कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि व्यक्ति के आभ्यंतर से ही उदित होता है। मेरी यह आस्था है कि धार्मिक विचार मनुष्य की रचना में ही सन्निहित हैं और यह बात इस सीमा तक सत्य है कि चाहकर भी मनुष्य धर्म का त्याग तब तक नहीं

कर सकता जब तक उसका शरीर है, मन है, मस्तिष्क है, जीवन है। जब तक मनुष्य में सोचने की शक्ति रहेगी तब तक यह संघर्ष चलता ही रहेगा और तब तक किसी न किसी रूप में धर्म रहेगा ही।

धर्म न तो मतों में है, न पंथों में और न तार्किक विवाद में ही। धर्म का अर्थ है-आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जान लेना, उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर लेना और तद्रूप हो जाना।

यह सोचना भूल है कि धर्मांधता द्वारा मानव जाति की उन्नति हो सकती है। बल्कि उलटे, यह तो हमें पीछे हटाने वाली शक्ति है, जिससे घृणा और क्रोध उत्पन्न होकर मनुष्य एक-दूसरे से लड़ने-भिड़ने लगते हैं और सहानुभूति शून्य हो जाते हैं। हम सोचते हैं कि जो कुछ हमारे पास है अथवा जो कुछ हम करते हैं, वहीं संसार में सर्वश्रेष्ठ है और जो कुछ हम नहीं करते अथवा जो कुछ हमारे पास नहीं है, वह एक कौड़ी मूल्य का भी नहीं।

★ ★ ★ ★

परोपकार

संसार का उपकार करना अपना ही उपकार करना है। दूसरों के लिए किए गए कार्य का मुख्य फल है-अपनी स्वयं की आत्मशुद्धि। दूसरों के प्रति निरंतर भलाई करते रहने से हम स्वयं को भूलने का प्रयत्न करते रहते हैं। और यह आत्म-विस्मृति ही एक बहुत बड़ी शिक्षा है, जो हमें जीवन में सीखनी है।

परोपकार का प्रत्येक कार्य, सहानुभूति का प्रत्येक विचार, दूसरों की सहायतार्थ किया गया प्रत्येक कर्म, प्रत्येक शुभ कार्य हमारे क्षुद्र अहंभाव को प्रति क्षण घटाता रहता है और हममें यह भावना उत्पन्न करता है कि हम न्यूनतम और तुच्छतम हैं; और इसीलिए यह सब कार्य श्रेष्ठ हैं। ज्ञान, भक्ति और कर्म-तीनों इस बिंदु पर मिलते हैं।

हमें सदैव परोपकार करते ही रहना चाहिए। यदि हम सदैव यह ध्यान रखें कि दूसरों की सहायता करना एक सौभाग्य है तो परोपकार करने की इच्छा एक सर्वोत्तम प्रेरणा-शक्ति है। एक दाता के ऊंचे आसन पर खड़े होकर और अपने हाथ में दो पेसे लेकर यह मत कहो, ''हे भिखारी! ले, यह मैं तुझे देता हूं।'' बल्कि तुम स्वयं इस बात के लिए कृतज्ञ होओ कि तुम्हें वह निर्धन मिला, जिसे दान देकर तुमने स्वयं अपना उपकार किया। धन्य पाने वाला नहीं होता, देने वाला होता है। इस बात के लिए कृतज्ञ होओ कि इस संसार में तुम्हें अपनी दयालुता का प्रयोग करने और इस प्रकार पवित्र एवं पूर्ण होने का अवसर प्राप्त हुआ।

अनुक्रमणिका

विवरण	पृष्ठ संख्या
दो शब्द	1
जन्म, बचपन एवं शिक्षा	2
श्री रामकृष्ण परम हंस के सान्निध्य में	6
सन्यास एवं भारत भ्रमण	10
शिकागो विश्व धर्म सम्मेलन	16
विजेता की स्वदेश वापसी	19
पुन: विदेश यात्रा	21
भारत में अन्तिम दिन एवं महाप्रयाण	23
परिशिष्ट प्रथम	25
परिशिष्ट द्वितीय	27
स्वामी विवेकानन्द की अमर वाणी	28